शान्ति-संदेश

मार्च १९६२ ई०

विषय-सूची

क्रम	लेख	लेखक	पृष्ठ
१	सन्त शाह फकीर की वाणी की व्याख्या	महर्षि मेंहीँ परमहंस जी महाराज	३३
२	छिपे रहु	सम्पादकीय	३४
३	सत्संग-सुधा	महर्षि मेंहीँ परमहंस जी महाराज	३६
४	सत्संग-समाचार		३६
५	अध्यात्म-साधना का धोखा	आनन्द	४०
६	पूर्णयोग की समीक्षा	मनिभाई पटेल	४२
७	पश्चिम और पूर्व	योगीवर अरविन्द	४७

एक विनय

"शान्ति-सन्देश" के लिये अध्यात्म विषयक लेख, जो सभी सन्तों के मतानुकूल हों, निम्न-लिखित पते से अध्यात्म प्रेमी गण भेजने की कृपा करें।

व्यवस्थापक, महर्षि मेंहीँ आश्रम
कुप्पाघाट, भागलपुर-३

संरक्षक
श्री हुलासचन्द्र खंगटा

प्रधान सम्पादक
डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' एम० ए० पी-एच० डी० (लन्दन)

सम्पादक एवं व्यवस्थापक
श्री उदितनारायण [illegible]धरी

सह सम्पादक—आनन्द

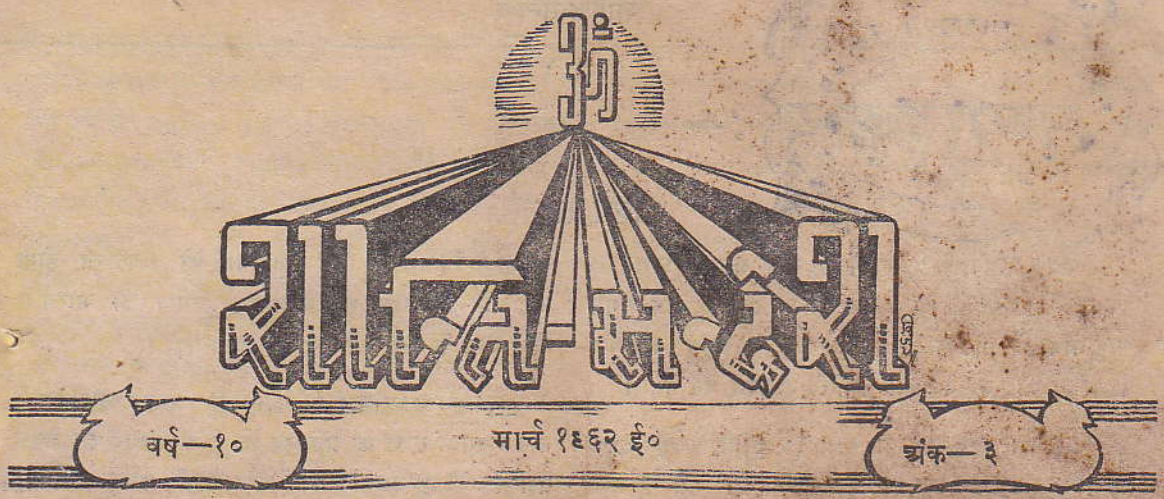

वर्ष—१०　　मार्च १९६२ ई०　　अंक—३

सन्त-वाणी का अर्थ

संत शाह फकीर की वाणी

व्याख्याकार—महर्षि मेंहीँ परमहंस जी महाराज

*** मूलपद्य ***

ध्यान लगावहु त्रिकुटी द्वार । गहि सुषमना बिहंगम सार ॥
पैठि पाताल में पश्चिम द्वार । चढ़ि सुमेरु भव उतरहु पार ॥
हफ्त कमल नीके हम बूझा । अठयें बिना एकों नहिं बूझा ॥
"शाह फकीरा" यह सब धंद । सुरति लगाउ जहाँ वह चंद ॥
अनहद तानहिं मनहिं लगावै । सो भूला प्रभु-लोक सिधावै ॥
सुनतहिं अनहद लागै रंग । बरि उठै दीपक बरै पतंग ॥
"शाह फकीरा" तहाँ समावै । चिरुवा पानी नदी मिलावै ॥
मन कच्छी असि जोर है मानत नाहीं धीर ।
कड़ा लगाम देके पकरु, सच्चे "शाहफकीर" ॥

अर्थ :—त्रिकुटी (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मिलन-स्थान) के द्वार पर ध्यान लगाओ । मध्यवर्त्ती धारा—सुषुम्ना को पकड़ कर पक्षी की उड़ान के असली रास्ते पर चलो । अन्दर में प्रवेश कर प्रकाश के द्वार से चलो और सब से ऊँचाई पर चढ़ कर संसार-सागर को पार कर जाओ । सात मण्डलों को वा कमलों को (मूलाधार चक्र से सहस्त्र दल कमल तक) हमने अच्छी तरह से बूझा । आठवें मण्डल अर्थात् सहस्रदल कमल के ऊपर के त्रिकुटी में पहुँचे बिना, नीचले मण्डल आज्ञा चक्र और सहस्रदल कमल में दर्शित अनेक प्रकार की ज्योतियों के अतिरिक्त एक ही एक ज्योति अर्थात् सूर्य नहीं बूझने में आया । शाहफकीर

(शेषांश पृष्ठ ३५ पर)

सम्पादकीय :—

छिपे राहु

वैदिक धर्मियों के पुराण में यह कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है कि जब देवताओं को अमृत पिलाया जा रहा था, उस समय राहु नाम के राक्षस ने देव के छद्मवेश में अमृत पान कर लिया था और वह देवताओं के लिये दुःखदाई बन गया।

यह कथा चाहे सत्य हो या रूपक ही हो, परन्तु सृष्टि में अविरल रूप से राहु की छद्म लीला चल रही है और लगता है कि भविष्य में भी इसकी यह लीला रुकने वाली नहीं है।

वैदिककाल से ही भारतीय ऋषियों द्वारा अध्यात्म-अमृत दिव्य गुण वालों—सदाचारी आत्माओं को पिलाने के कार्यक्रम का इतिहास मिलता है। उस इतिहास में जहाँ-तहाँ असुर-कलानिपुण राहु के इतिहास का भी उल्लेख अवश्य मिलता है। देव, साधक, सदात्मा—सदाचारियों के बीच में जहाँ भी राहु का प्रवेश हुआ कि एक न एक दिन वह आलोक केन्द्र के प्रतीक स्वरूप चन्द्रमा और सूर्य को अवश्य ही ग्रस लेता है और ज्ञानज्योति के स्थान पर अज्ञान की घन कालिमा फैल जाती है।

वैदिक कालीन इन घटनाओं से अवगत होकर ही वर्त्तमान युग के आदि ऋषि या सन्त भगवान् बुद्ध ने बड़ी ही सावधानी से इस अध्यात्म-सुधा की निर्मलता को अक्षुण्ण रखने की योजना बनाई थी। उनकी वाणी के अभिव्यक्तिकरण में सदा ही यह ख्याल रखा गया कि परमतत्त्व, जो कि सदा ही अव्यक्त है, उसे व्यक्त और व्यक्ति समझ लेने की सम्भावना उपस्थित न हो सके, परन्तु असुराधिप राहु ने यहाँ भी विलक्षण चतुराई से प्रवेश किया और बुद्धानुगामियों को माया की सिद्धियों के जाल में बझा कर अन्त में उसे भोग के द्वारा योग पाने के भ्रमों में फँसा लिया और अध्यात्म के पावन-निर्मल क्षेत्र में वासना की वीभत्स गन्दगी किचपिच करने लगी। फलतः सन्तजनों की सुरक्षा एवं दुष्टता के विनाश के लिये शंकराचार्य को अवतरित होना पड़ा और उन महान् धर्म के व्यापक प्रभाव को भारत से बहुत काल के लिये तिरोहित हो जाना पड़ा।

भगवान् शंकराचार्य ने अद्वैत की प्रचण्ड तीक्ष्णता में नाम-रूपमयी सृष्टि के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर केवल ब्रह्मतत्त्व की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार की, परन्तु छद्मवेशी राहु ने शंकराचार्य के अनुयायियों के मानस में सगुणोपासना के प्रति इतनी गहरी आसक्ति उत्पन्न कर दी कि ब्रह्मतत्त्व केवल भावना और कल्पना की वस्तु बन गई और उसकी प्राप्ति का अच्युत साधन नादानुसन्धान जैसे उस मत से विलुप्त ही हो गया। यही हालत सन्त कबीर, गुरुनानक, दादू, पलटू, रैदास, दरिया साहब, सूरदास एवं तुलसीदास-जी के अनुयायियों की भी होती रही। राहु महाराज की कृपा से इन लोगों के नाम पर एक अलग-अलग पन्थ हो गया और जिस गुह्य साधना से वे लोग सन्त-पद तक पहुँचे थे, उसका पता वहाँ खोजने से भी मिलना मुश्किल हो गया है।

आज सन्तमत के द्वारा अध्यात्म-साधना की गुह्यता और गोपनीयता को मानो उद्घाटित और व्यापक बना दिया गया है और इसके प्रच्छन्न उद्घाटक हैं महर्षि मेँहीँ परमहंस जी महाराज। यद्यपि इसका सूत्रपात सन्त तुलसी साहब की वाणी में भी दृष्टिगोचर हो रहा है। इस व्यापक उद्घाटन को देख कर भयभीत राहु असुराधिप ने भी अपनी माया के द्वारा इसे विकृत, दूषित और उच्छन्न करने का घातक प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। कभी तो ये चोरी व्यभिचार, नशा, हिंसा और झूठ के छोड़ने की झूठी प्रतिज्ञा कर दीक्षा लेकर ध्यानाभ्यास करते हैं और अपना दुष्ट उद्यम भी जारी रखते हैं और कभी-कभी यह साधकों के मन-बुद्ध्यादिकों को आक्रान्त कर दुराचार तक घसीट लाते हैं,

जिससे सन्तमत के प्रति अखण्ड श्रद्धा रखने वालों की चेतना भी एक बार घबड़ाहट से भर कर डगमगाने लगे। सन्तमत के सच्चे अनुयायियों एवं श्रद्धालु भक्तों को ऐसे कठिन अवसर पर अत्यन्त सचेत, दृढ़, धीर-गम्भीर एवं अविचल होने की आवश्यकता है। उन्हें राहुओं के छद्मवेशों को तीक्ष्ण चेतना के द्वारा उद्भेदन एवं उच्छेदन करना चाहिये। ये राहुगण सन्तमत के निर्देशानुसार पंचपापों से बचे रहने तथा नित्य नियमित रूप से ध्यानाभ्यास करते रहने की हार्दिक आवश्यकता तो बोध नहीं करते, परन्तु आडम्बरी ध्यान-पूजा की कमी नहीं रखते और उच्च स्वर से अपने को सन्तमत का सत्संगी घोषित करते हैं और जहाँ-तहाँ सत्संग मण्डली एवं समाज में सन्तमत का सिद्धांत एवं आचार-विचार समझाने का दम्भ रचते हैं। इन राहुओं से सन्तमत एवं मानव-समाज को बचाना प्रत्येक सच्चे अध्यात्म-प्रेमी का पुनीत कर्त्तव्य है। ऐसा अवसर आने पर—उन छद्मवेशधारी राहुओं की पहचान होते ही, अत्यन्त दृढ़ता से उसका निराकरण करने में सभी को लग जाना चाहिये।

(पृष्ठ ३३ का शेषांश)

कहते हैं कि कहे हुए स्थानों के प्रकाश मलिन माया के ही तेज हैं। अतएव धंद=धुंध यानी अन्धकार ही हैं, मलिन माया के धुंध पद से आगे निर्मल माया के चन्द्र पद में सुरत लगाओ। जो कोई अनहद तान में मन लगाता है, वह संसार को भूलकर प्रभु परमात्मा के लोक को जाता है। अनहद के सुनते ही ईश्वर-प्रेमका रंग लगता है। दीपक जल उठता है और सूर्य दीप्तिमान होता है। फकीर शाह कहते हैं कि वहाँ समाइये जहाँ चुल्लू के पानी को अर्थात् जीवात्मा को चेतन की धारा की नदी में मिलाते हैं। मन रूप कच्छो घोड़ा यानी कच्छ देश का घोड़ा बड़ा जोरावर है, धीर नहीं मानता है (विषयों की ओर जोर से भागता ही रहता है) हे सच्चे साधक! उस घोड़े को विचार और साधना-भ्यास का कड़ा लगाम देकर पकड़ो।

—प्रेषक
'संतसेवी'

महर्षि मेंहीँ परमहंसजी महाराज

प्यारो धर्मानुरागिणी जनता !

आजकल हमलोग बहुत कड़ुवा समय के अंदर से चल रहे हैं। लोगों में हल्ला है कि यह अष्ट ग्रह के संयोग का समय है। इसमें भयंकर-भयंकर रोग फैलते हैं, राष्ट्रों में युद्ध होते हैं, भूकम्प होता है, आदमी बहुत कष्ट पाते हैं। इन सब बातों से डरकर लोगों ने बहुत से शुभ अनुष्ठान किये हैं। यह बहुत अच्छा है। दुःख से बचने के लिये शुभ कर्म की ओर अपने मनको लगाओ तो दुःख की ओर से मन हँट जाता है। महाभारत के समय बहुत उत्पात हुआ था। युद्ध में युधिष्ठिर के बहुत से लोग मर गये थे, उनका मन राज्य करने में नहीं लगता था, वे जंगल जाकर तप करना चाहते थे। उनका मन बहुत दुःखी था तो उनके मनको दुःख की ओर से फेरने के लिये यज्ञ करवाया गया था। इसी तरह लोग कीर्त्तन, यज्ञ आदि की ओर मनको लगा कर दुःख को भुलाते हैं। हो सकता है, ईश्वर की कृपा से इन कर्मों से अष्टग्रह योग का प्रभाव भी कम पड़े। लेकिन् लोग जो इतना खर्च कर रहे हैं, यह थोड़े दिनों के लिये। इस आपदा से बढ़कर और भी आपदा है, जो सब दिन लगी रहती है। राम चरित मानस में आया है—

"व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखण्ड॥"

आप इतिहास को याद कीजिये। एक समय ऐसा हुआ था कि यहाँ से धन लूटकर ले जाने वाले धन लूटकर ले जाते थे, गाँवों को जलाते थे, पुरुषों को गुलाम बनाते थे, स्त्रियों को भी पकड़-पकड़ कर ले जाते थे, ऐसा अपने देश में पहले हुआ था। यदि फिर ऐसा हो तो आप इतने डरेंगे कि खाना-पीना भूल जायंगे। एक बार फ्रान्सीसी सेना इंग्लैण्ड में उतर गई तो डर के मारे इंग्लैण्ड के बहुत लोगों को पेचिश की बीमारी हो गई। यदि आप के ऊपर भी कोई आकर आक्रमण करे तो आपकी क्या हालत होगी ? इस तरह मनुष्य की फौज का आक्रमण कुछ काल तक रहता है, फिर नहीं रहता। लेकिन जो आक्रमण सदा से है, उसके दबाब में सब दिन पड़े हैं। उसका कुछ भी डर नहीं, आश्चर्य है ! भारत ही नहीं तमाम संसार में माया की भयानक सेना फैली हुई है। सेना की मार खाते हैं, दुःखद भोग भोगते हैं। फिर भी होश में नहीं आते। माया के सेनापति कामादि हैं। ये सेना और सेनापति बाहर में नहीं, सबके अन्दर-अन्दर हैं। सोचिये, है कि नहीं ? कभी काम, कभी क्रोध कभी लोभ, कभी मोह इतना सताते हैं कि मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जाता है। पशु से भी खराब हो जाता है, इस सेना के दबाब में हम सदा से पड़े हैं। इससे छुटकारा मिले, इसका क्या यत्न है ? यह माया किसकी है ?

"सो दासी रघुवीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहऊँ पद रोपि॥"

कोई उकता करके रोवे, चिल्लावे वा देह को नष्ट करे तो कोई लाभ नहीं होगा। जिसके द्वारा माया रचित है, उसको जानो। यदि उसकी शरण लो तो उसकी जरासी कृपा से माया खतम हो जाय।

"जो माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित्र लखि काहु न पावा॥

सो माया प्रभु भ्रू विलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा ॥"

जिस तरह आपलोग ग्रह से डर कर शुभ अनुष्ठान करते हैं, उसी तरह यह भी डरिये कि आप सब कोई माया की फौज से दबे हैं, इससे छूटें, इसके लिये भी शुभ अनुष्ठान करें। शुभ अनुष्ठान का एक ही यत्न है कि ईश्वर की कृपा प्राप्त करो। क्योंकि "छूट न राम कृपा बिनु" कहा गया है। पहले राम को जानो। यह भारत धर्म प्रधान देश है, ईश्वर की मान्यता के लिये मुँह फैलाकर कहता है कि ईश्वर है। हमारे देश में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे अनात्मवादी हैं। लेकिन उसकी संख्या बहुत कम है।

भारत देश की सर्वोत्तम निजी उपज आध्यात्मिक है। राम-राम, शिव-शिव आदि कहने के लिये बचपन से ही हमको सिखाया जाता है। आजतक कितने बच्चे, बूढ़े और जवान इस संसार से चले गये, लेकिन बहुत कम लोग ईश्वर-स्वरूप को जानते हैं। इसीलिये जो ईश्वर नहीं है, उसको भी ईश्वर कहकर मानते हैं। इस कारण ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर ईश्वर की माया को पाते हैं। श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है कि भूतों को पूजने वाले भूतों को, देवताओं को पूजने वाले देवताओं को और मुझे भजने वाले मुझको पाते हैं।

ईश्वर की सत्ता का बोध हमको होना चाहिये। वह ईश्वर राम कैसा है? "सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बलधामा ॥" विज्ञान का अर्थ है—विशेष ज्ञान। लेकिन आजकल यह प्रचलित है कि कुछ सामान लेकर जो यंत्र बनाते हैं, वह विज्ञान है। वैज्ञानिक ऐसा-ऐसा बम-तोप आदि बनाते हैं कि तीन, चार वा पाँच बमों से ही संसार को खतम कर दें। लेकिन ऐसा एक भी यंत्र नहीं बन सका है कि मृतक को जीवित किया जा सके। कहानी है कि भगवान् श्री राम के दल के जो लोग मर गये, उनलोगों को अमृत-वर्षा कर के श्री राम ने जिला दिया। यह भी विज्ञान है। ईश्वर महा वैज्ञानिक है। भौतिक वैज्ञानिक संसार के तत्त्वों को लिये बिना कुछ बना नहीं सकते। लेकिन ईश्वर ऐसा वैज्ञानिक है कि बिना उपादान के ही सृष्टि करता है।

"तदि अपना आपु आप ही उपाया।
नाँ किछुते किछु करि दिखलाया ॥"

गुरु नानक ने कहा, इसलिये परमात्मा "अज विज्ञान रूप बलधामा" है। भौतिक विज्ञानी बिना उपादान के एक चुटकी मिट्टी भी नहीं बना सकते। ईश्वर की तरह वैज्ञानिक आधिभौतिक विज्ञानी हो नहीं सकता।

रामायण में कहा गया कि—"भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप। यथा अनेक भेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावई, आपुन होइ न सोइ ॥" यह क्या है? जिसका रूप काछते हैं, वह, वह नहीं बन जाता। जिसने राजा का रूप धारण किया, वह कौन था?

"उमा राम विषयक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥
जथा गगन घन पटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहइ कुविचारी ॥"

आकाश में अन्धकार, धूल, और धुआँ फैला हुआ देखकर कुविचारी कहते हैं कि सूर्य इनसे ढँक गया है। लेकिन एक ही समय में समस्त संसार में धुआँ, धूल वा अंधकार नहीं हो सकता। हमारे यहाँ मालूम होता है कि दिन है और इसी समय अमेरिका में रात है। धुआँ, धूल वा अंधकार समूचे संसार को व्याप नहीं सकता। किसी अंश में है तो और अंश बाकी है। आप जो माया का फैलाव देखते हैं, ईश्वर इससे ढँक गये हैं, ऐसा नहीं। लेकिन ऐसा कि माया के आवरण से आवृत्त उसका कोई अंश ही हो सकता है। सूर्य बादल, धुआँ और धूल से ढँक नहीं सकता। क्योंकि वह बहुत बड़ा है। बादल का मंडल उसके सामने बहुत छोटा है। हमारी दृष्टि दूर तक नहीं जाती है, इसलिये सूर्य को नहीं देखकर हम बादल ही बादल देखते हैं। इसी तरह माया से आवृत्त रहने के कारण जो आत्मस्वरूप है, उसे हम नहीं देख पाते।

राम वैसा भी है, जिसका जन्म हुआ है 'जन्म कर्म अगनित हरि केरे' और वैसा भी राम है जिसका जन्म न हो। जन्म होने से आपको कहना पड़ेगा कि वे कभी हुए, उसके पहले वे नहीं थे। माया रूप का जन्म होता है,स्व रूप का नहीं। स्व रूप का कभी होना नहीं होता, वह सदा रहता ही है। स्वरूप के लिये गो० तुलसीदास जी ने लिखा है—

"अनुराग सो निजरूप जो जग तें विलच्छन देखिये।
संतोष शम शीतल सदा दम देहवन्त न लेखिये॥
निर्मल निरामय एकरस तेहि हरषशोक न व्यापई।
त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दशा ऐसी भई॥"

इसको समझिये। अवतार में देह है, लेकिन आत्म स्वरूप में देह नहीं है। भगवान् का जन्म हुआ, इतने बड़े हुए और इतने दिन रहे, यह माया में होता है। लेकिन वहाँ 'निर्मल निरामय एक रस तेहि हरष शोक न व्यापई" यह आत्म-स्वरूप है। इसका जन्म कभी नहीं हुआ। इसके पहले कुछ नहीं हो सकता। उसको परमात्मा-ईश्वर कहते हैं। जो सबसे पहले का है, वह कितना बड़ा है? अगर कहा जाय कि उसमें सीमा थी, तो आकाश उस सीमा के बाहर था। तब अवकाश पहले हुआ; उसी अवकाश में भगवान् श्री राम, श्री कृष्ण ने विराट रूप धारण किया वा विष्णु भगवान् ने विराट रूप धरकर बलि से पृथ्वी लिया था। मेरा वा आपका जो शरीर इस पृथ्वी पर है, यह माता के गर्भ में था, पीछे इस पृथ्वी पर आया। इसलिये जिसके पहले का कुछ नहीं,अपनी सत्ता से वह इतना व्यापक कि जिस व्यापकता के परे और कुछ मानना असंभव है। जो सदा असीम है, कभी ससीम हो नहीं सकता। वह परमात्मस्वरूप है, वह असीम है, अपरिमित शक्तियुक्त है। गो० तुलसी दास जी के शब्द में है—

"व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता।
अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥"

"अलख अपार अगम अगोचरि न तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाव न भरमा...॥"

—गुरु नानक।

"अरूप अखंडित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य।
ऊँचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायें अनन्य ...॥
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा मोहीं तें सब लेखा।
सबके मध्य निरन्तर साईं दृष्टि दृष्टिसों देखा॥"

—कबीर साहब।

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठोप०) और 'बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा" एक ही बात है। बड़ा से बड़ा वही हो सकता है, जिससे बड़ा और कुछ न हो। उसी में यह सारा विश्व है। और इस विश्व में वह व्यापक है। जो परमात्मा इतना व्यापक है, वह इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य नहीं है। जो जितना अधिक व्यापक होता है, वह उतना ही अधिक सूक्ष्म होता है। जो सबसे अधिक सूक्ष्म होगा, वह सबसे अधिक व्यापक होगा। स्थूल यंत्र से सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियाँ स्थूल ही स्थूल हैं। इन स्थूल इन्द्रियों से उस सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण हो, संभव नहीं। लक्ष्मण जी से श्री राम ने कहा था—

"गो गोचर जहँ लगि मन जाई
सो सब माया जानहु भाई॥"

"राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति-नित निगम कह॥"

यह स्वरूप परमात्मा का है। इन्द्रियों से जो ग्रहण हो, वह माया है। व्यक्त है। परमात्मा का असल स्वरूप अव्यक्त है। इसीलिये—

"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥
यथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥"

जो भाव दीखता है वह माया है और जो उसमें व्यापक है, वह माया नहीं बना। इस बात को जानने वाले कम हैं। सबलोगों को यह बूझना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् के कहे अनुकूल जो अव्यक्त को जानते हैं, वे बुद्धिमान हैं। जो अव्यक्त को नहीं जानते वे मूढ़ हैं।

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।'

श्री मद्भगवद्गीता, अ० ७ । २४

उस ईश्वर की कृपा से हम विकारों से छूटेंगे। क्रोध मनोज मोह मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया ।। उसकी भक्ति हम करें। उसके स्वरूप को जानें। उसकी ओर जाने वाले कम हैं। जो नहीं जानते हैं, वे मोटी भक्ति में लगे रहते हैं। मैं कहता हूँ मोटी भक्ति का आरंभ करो और सूक्ष्म भक्ति की ओर भी जाओ। मकान की नींव देने से ही काम खतम नहीं होता, उस पर मकान बनाना होता है, इसी तरह मोटी भक्ति नींव है, उस पर सूक्ष्म की भक्ति मकान है।

सत्संग ज्ञान यज्ञ है। द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

श्री मद्भगवद्गीता अ० ४ । ३३, ।

यदि श्रद्धा एवं प्रेम से आप ज्ञान यज्ञ और द्रव्य यज्ञ दोनों करते हैं, तो आपके दोनों हाथों में लड्डू हैं। इसके अतिरिक्त अध्यात्म यज्ञ भी होता है। ज्ञान यज्ञ परोक्ष ज्ञान है, अध्यात्म यज्ञ प्रत्यक्ष कराता है। भगवान करें आप अध्यात्म यज्ञ भी करें। वेद में भी अध्यात्म यज्ञ का वर्णन आया है, यह करते-करते होता है।

"कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधा" ।।

सामवेद सू० १० मं० २

अर्थात् ज्ञानीगण अपने स्तोत्रों द्वारा जब इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को जीवन रूप यज्ञ का साधन बना लेते हैं, तब विद्वान लोग अन्य प्राण आदि इन्द्रिय-साधनों या यज्ञ के पात्रादि को प्रयोजन रहित ही सहयोगी मात्र कहते हैं। साधक लोग जब अध्यात्म यज्ञ करते है तब द्रव्य यज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है।

महर्षि मेंहीं परमहंस जी महाराज का यह प्रवचन सहर्षा जिला सन्तमत सत्संग के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्राम विहारीगंज में दि० २७-१-६२ ई० के मध्याह्न काल में हुआ था।

प्रेषक—संतसेवी

सत्संग—समाचार

ता० ११, १२ एवं १३ मार्च १९६२ ई० को अखिल भारतीय सन्तमत सत्संग का ५४ वाँ वार्षिक अधिवेशन वैकुण्ठपुर (दुधैला), भागलपुर में बड़े ही उत्साह, उदारता और शान्तिमयता से सम्पन्न हुआ। आयोजन कर्त्ता की श्रद्धा-भक्ति की कोई सीमा नहीं थी। तीनों दिनों के प्रातः एवं अपराह्न-कालीन सत्संग में पचासों हजार श्रोता उपस्थित होकर शान्त भाव से महर्षि मेंहीं परमहंस जी का प्रवचन सुनते रहे।

अध्यात्म-साधना का धोखा

आनन्द

कौल (तान्त्रिक) पन्थ के द्वारा साधारण जन-मानस में यह विचार प्रवेश कराने तथा उसे स्थापित करने के लिये बहुत समय से प्रखर प्रयत्न होते रहे हैं कि मांस, मदिरा, मछली, मुद्रा एवं मैथुन के उपयोग से भी मनुष्य परम सिद्धि या मोक्ष या परम प्रभु परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। इसी तथ्य की वास्तविकता से परिचय कराने के लिये १९६१ के जून अंक (शान्ति-संदेश) में इस मत की सब में ऊँची सिद्धि का रूप उपस्थित किया गया था। हमें जानने में आया कि अवश्य ही यह बहुकालीन प्रचार भ्रमाच्छादन करने में जहाँ-तहाँ सफल भी हुआ है, नहीं तो, 'वह परम मिलन, जिसमें विषय इन्द्रियातीत हो गया" के विद्वान लेखक और साधक प्रमोद कुमार चट्टोपाध्याय ही नहीं, वरन् सन्तमत के एक अच्छे सत्संगी जो अनेकों वार महर्षि जी के सत्संग में उपस्थित हुए हैं और उनकी बताई साधना में भी संलग्न हैं—वे भी उक्त "तान्त्रिक अनुभव कथा" को पढ़कर बोल उठे कि तान्त्रिक मत की भी तो सर्वोच्च सिद्धि वही है, जो सन्तमत की है। जब ऐसे-ऐसे लोगों को माया की प्रचण्ड शक्तियाँ विभ्रम में डाल सकती हैं, तो साधारण जन की कौन कहे ? इसीलिये "वाममार्ग" की चर्चा 'शान्ति-संदेश' में उपस्थित की गई थी, जो कि इस पत्र का विषय नहीं है।

कौल सिद्धों द्वारा पंच मकारों का दुरुपभोग करते हुए इस स्थूल देह को आँखों से तिरोहित (अन्तर्ध्यान) कर लेना और उसे ही प्रेम (भक्ति) के द्वारा उपलब्ध एकत्व या अद्वैत की स्थिति बताना और ऐसा कहना कि—"मैथुन परम सत्य है। यह साधना का अन्त है, तब दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।" कितना बड़ा आध्यात्मिक धोखा है ? और एक सुसंकृति सम्पन्न, सदाचारी एवं पवित्र-सात्त्विक साधक एवं समाज के लिये यह स्थिति कितनी वीभत्स, गर्हित, जघन्य, लज्जाजनक तथा घृण्य है ?

यह पढ़कर लगा—जैसे स्वच्छ-श्वेताभ अध्यात्म के निर्मल शरीर पर किसी ने गन्दी-काली कीचड़ पोत दी हो और उसे ही भव-रोग-विनाशिनी अध्यात्म-सुधा के नाम से भोले-भाले, सरल जिज्ञासुओं के गले धोखे से उतारी जा रही हो।

जिस परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये युग-युग के महर्षियों या सन्तों ने परब्रह्म के सदृश ही पवित्र और परिस्वच्छ हो जाने की स्थिति अनिवार्य बताई है, उस पावनतम-अति स्वच्छतम परमात्मा को वहिर्भोगों, विषय-सामग्रियों और वीभत्सता के घोर भावों से तन मन-प्राण को ओत-प्रोत कर देने वाली कार्यप्रणालियों द्वारा उपलब्ध करने का विश्वास दिलाना और कुछ मायिक चमत्कारों से उसे आकर्षक बना, सरल भावुक जिज्ञासुओं की श्रद्धा को उस पर जमाने की चेष्टा करना—कितना मधुर-भयंकर धोखा है ? इससे तो नास्तिकवाद कम बुरा है, जो कम से कम 'विष' को 'पियूष' कह कर नहीं पिलाता।

अवश्य ही अद्भुत है माया की ये प्रच्छन्न, छद्मवेश-धारिणी शक्तियाँ, जो अध्यात्म-सुधा के वेश में बड़े-बड़े विद्वानों को भी गरल-पान कराने में सफल हो जातीं हैं। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी को कहना पड़ा—

"प्रभु माया बलवन्त भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥
ज्ञानी भगत शिरोमणि, त्रिभुवन पति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पावँर करहिं गुमान॥
शिव विरञ्चि कहँ मोहई, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान॥"
'गो गोचर जहँलगिमनजाई। सो सब माया जानेहुभाई॥"

"व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि मद, दम्भ कपट पाखण्ड॥

ऐसी दुर्द्धर्षा और दुर्दन्ता माया एवं उसके दावपेचों को दुर्ज्ञेय, दुर्बोध एवं दुर्निवार्य ही समझना चाहिये। बिना परम प्रभु—राम की कृपा के इस दुर्दम्य माया से छुटकारा पाना असम्भव ही है। क्योंकि—

सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहऊँ पद रोपि॥

—रामचरित मानस

राम की कृपा तो सभी प्राणियों पर स्वभावतः है ही, परन्तु जिस कृपा से माया के फन्दे से छूटा जाता है, उसका एक विशिष्ट रूप है—

संत विशुद्ध मिलहिं पुर तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

—रामचरित मानस

विशुद्ध और पूर्ण सन्त का मिलना ही राम कृपा का वह विशेष रूप है और सन्तों के मिलने से ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग जाना जा सकता है तथा सन्तों के बताये मार्ग के अन्त तक जाने पर ही माया के परे– "प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी" को पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है:—

बिन दया सन्तन की "मेंही", जानना इस राह को।
हुआ नहीं, होता नहीं वो होनहारा है नहीं॥

—महर्षि मेंही

भगवान् करे कि परमात्मा-प्राप्ति के सच्चे अन्वेषक और जिज्ञासुगण माया की सिद्धियों के फेर में न पड़ें। बिचारे बगला बाबा, बुद्धिमती भैरवी और विद्वान लेखक प्रमोद कुमार चट्टोपाध्याय यदि माया की सिद्धियों के चकमे में आ जाते हैं तो क्या आश्चर्य, जबकि रावण की मायावी सिद्धियों के चक्कर में राम-अनुज लक्ष्मण, भक्त श्रेष्ठ हनुमान, ब्रह्मा जी के अवतार जामवन्त जी जैसे महान् आत्मा भी विभ्रमित हो गये थे। परम तत्त्व के खोजियों को सन्त-वाणियों पर श्रद्धा करनी चाहिये। उन्हें विश्वास करना चाहिये कि विषय-सेवन से विषय का विनाश नहीं होता।

"छूटइ मल कि मलहिं के धोये" —गो० तुलसीदासजी

अन्त में परम शिष्ट वाणी में कथन करनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजी कौल या वाम मार्गियों को किस श्रेणी में रखते हैं और उन्हें किस प्रकार की गति का मिलना बताते हैं, इसे जान कर सभी मनुष्य सन्तों या महर्षियों के बताये मार्ग का ही अनुसरण करने में प्रवृत्त होवें, यही परमात्मा से हमारी प्रार्थना है।

माता कौशल्या को भरतजी विश्वास दिलाते हैं कि भगवान् राम को वनवास देने में मेरी जरा भी सम्मति नहीं है और न इस भेद को मैं जानता ही हूँ। इसी सिलसिले में वे (भरत जी) कहते हैं—

"तजि श्रुति पन्थ वाम पथ चलहीं।
वञ्चक विरचि भेष जग छलहीं॥
तिन्ह की गति शंकर मोहि देऊ।
जननी जो यह जानौं भेऊ॥"

—रामचरित मानस

अंगदजी रावण को 'मरा हुआ' मुर्दा या शव के सदृश होने की बात कहते हैं—

"कौल" कामवश, कृपिण विमूढ़ा।
अति दरिद्र, अयशी, अति बूढ़ा॥
सदा रोगवश सन्तत क्रोधी।
विष्णु-विमुख "श्रुति सन्त विरोधी"॥
तनु-पोषक, निन्दक, अघखानी।
जीवत शव सम चौदह प्रानी॥

—रामचरित मानस

पूर्णयोग की समीक्षा

—मनिभाई पटेल, श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी

जिस प्रकार मनुष्य की इन्द्रियाँ अपनी शक्ति में सीमित हैं, उसी प्रकार मन की शक्ति भी सीमित है और इसलिए किसी भी विषय को समझाने के लिए मन को विभाजन करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, सूर्य की गर्मी, प्रकाश, किरण आदि पृथक्-पृथक् भागों में विभाजित कर हम उसके संबंध में एक सम्पूर्ण धारणा बनाते हैं यद्यपि वास्तव में सूर्य में विभाजन नहीं है। सभी वस्तुएँ समग्र रूप में एक साथ और अभिन्न है, जैसे सिक्का का पूरा मूल्य पाने के लिए हम उसे दो पहलुओं में बाँट देते हैं, पर सिक्के के लिए दोनों में कोई भिन्नता नहीं है।

एवं प्रकारेण, सारी सृष्टि में एक ही परम सत्ता है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, किन्तु मन की सीमित सामर्थ्य के अनुसार उसे समझाने के हेतु हम उसे दो भागों में विभक्त करते हैं, एक है परमेश्वर या पुरुषोत्तम और अन्य है परम शक्ति या महाशक्ति—यद्यपि ईश्वर के दोनों स्वरूप अभिन्न एवं ओतप्रोत हैं तथा एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

पुरुषोत्तम स्वरूप से वह निष्क्रिय, स्थितिशील एवं महाशक्ति स्वरूप से सक्रिय, गतिशील, सर्जनकारी और सर्जनहारी है। महाशक्ति अनेकानेक विश्वों का सृजन और विसर्जन करती है तथा प्रशांत स्वरूप से पुरुषोत्तम उसका आनन्द लेते हैं। कारण, ईश्वर सदा महाशक्ति से युक्त रहते और उसके कार्यों का अनुमोदन करते हैं, क्योंकि पुरुषोत्तम के अनुमोदन के बिना महाशक्ति अकेली कुछ नहीं कर सकती है।

विश्व-सृजन के लिए महाशक्ति ने अपने प्रकाश में से विभिन्न स्वरूपों को प्रकट किया और ये ही प्रथमतः विश्व के देने का सृजन हुआ। अपनी पृथ्वी के संचालन के निमित्त महाशक्ति ने अपने ही स्वरूप से चार शक्तियाँ आविर्भूत कीं—महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी और महेश्वरी।

देवों का लोक पूर्ण प्रकाश से अज्ञान की ओर प्रथम स्तर है। देव-देवियाँ सचेतन आत्माएँ हैं, अनेक शरीर और आकार सूक्ष्म हैं तथा उनकी शक्तियाँ विभिन्न हैं जो जो मनुष्यों से कहीं अधिक महत्तर हैं।

देवों की सहायता से निम्न स्तरों का निर्माण किया, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकृति एवं आकार की आत्माएँ हैं। उनकी शक्तियाँ भी मनुष्यों से महान् हैं। प्राणमय लोक की कुछ सत्ताएँ अपने अज्ञान के कारण प्रभु के दिव्य प्रकाश का विरोध करने लगीं और प्रभु से पृथक होकर अपना साम्राज्य स्थापित करने लगीं, इन्हें ही हम असुर, पिशाच, दानव, राक्षस आदि नामों से जानते हैं। अपने पुराणों में भी देवासुर-संग्राम के विभिन्न वर्णन मिलते हैं। इसी प्राणलोक के नीचे अन्धकार और अज्ञान से भरी हमारी पृथ्वी है जिस पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया।

पृथ्वी घोर अन्धकार और अज्ञान से परिपूर्ण होने पर भी विकास-क्रम का एकमात्र क्षेत्र है। यही हमलोगों के लिए आशा की किरण है जिससे कि घोर अन्धकार-ग्रस्त मानव-जाति क्रमशः विकास करते हुए अपने मूल स्वरूप ईश्वर को पा सकती है। देवों को भी अपने मूल को प्राप्त करने के लिए समयानुसार पृथ्वी पर आना पड़ेगा। मानवजाति पर यह परम कृपा है कि वह अपने मूल ईश्वर को पा सकती है जब कि अन्यान्य लोकों की सत्ताओं के लिये यह सर्वथा अशक्य है।

—२—

सृजन

ईश्वर ने अपनी लीला के लिए तथा अन्यान्य कारणों से जगत् रचने की इच्छा की और महाशक्ति ने इसे प्रारम्भ किया। विशाल आकाश में क्रिया प्रारम्भ हुई और प्रकाश

से अंधकार तथा चेतना से अवचेतना का निवर्तन हुआ। इस से जड़ तत्त्व उत्पन्न हुआ और कालक्रमेण पृथ्वी ने घनस्वरूप धारण किया। पृथ्वी के जड़तत्त्व में अपना सम्बन्ध रखने के लिये, ईश्वर ने अपना प्रकाश प्रच्छन्न रूप से निहित किया, जिससे पृथ्वी विकास-क्रमानुसार पुनः प्रकाश और चेतना प्राप्त कर सके और ईश्वर स्थूल भूमिका पर स्थूल शरीर से आविर्भूत हो सके और पृथ्वी का साम्राज्य अपने हाथों में ले सके तथा पृथ्वी स्वर्गतुल्य बन जाय। श्रीअरविन्द ने ही सर्वप्रथम यह नूतन सत्य जगत् को दिया है, उन्होंने इसे मिथ्या, मायारूप नहीं माना है। यदि ईश्वर या ब्रह्म सत्य हैं तो उनका सृजन भी निश्चय ही सत्य है।

—३—

विकास-क्रम

सृजन की क्रिया के प्रारम्भ के लाखों वर्षों बाद पृथ्वी का घन आकार गठित हुआ और मिट्टी तथा जल प्रकट हुए। तत्पश्चात् विकास-क्रम की प्रवृत्ति के अनुसार जीवन-तत्त्व का संचार हुआ और जलचर और वनस्पति उत्पन्न हुए। इस विकास को समृद्ध होने में लाखों वर्ष लगे। इसके बाद नये विकास के लिये प्राणमय स्तर का नया तत्त्व अवतरित हुआ। इस तत्त्व से प्राणियों की उत्पत्ति हुई, इसकी भी यथेष्ट समृद्धि के लिए लाखों वर्ष लगे। इसके बाद मनोमय स्तर का नया तत्त्व पृथ्वी पर प्रकट हुआ, जिससे मानवजाति की उत्पत्ति हुई, इसकी विकसित वर्तमान अवस्था की प्राप्ति के लिये भी लाखों वर्ष लगे।

ईश्वर के विश्व-सृजन में मनोमय भूमिका ही अन्तिम भूमिका नहीं है। अतएव मनुष्य भी अन्तिम सृजन नहीं हो सकता। अभी हमलोग अर्द्ध पशु की अवस्था में हैं—हमलोग क्या विचारते हैं, क्या करते हैं और क्यों जीते हैं, आदि का ज्ञान हमलोगों को नहीं है, हमलोग इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं के द्वारा घसीटे जाकर अपना जीवन पूरा करते हैं। मनुष्य-जीवन के सच्चे उद्देश्य क हमें जरा भी ज्ञान नहीं है और अन्ध मनुष्य या वन्य पशु की भाँति हम जीवन व्यतीत करके अपनी शक्ति तथा जीवन को नष्ट करते हैं।

मनोमय भूमिका से अधिकतर तेजस्वी अनेक भूमिकाएँ हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ तेजस्वी और पूर्ण ज्ञान सम्पन्न भूमिका है अतिमानसिक भूमिका (Supramental plane)। इस नये ज्ञान को श्रीअरविन्द ने बतलाया है। उन्होंने घोषित किया है कि यदि इस नये प्रकाश-शक्ति को पृथ्वी पर उतार कर स्थापित किया जाय तो पृथ्वी का नया विकास संभव हो सकेगा और अतिमानस के कार्य के फलस्वरूप नवीन पूर्ण विकास प्राप्त नवीन मानवजाति, अतिमानवजाति, (Supramental race) प्रकट होगी और यही विकास-क्रम का अंतिम सोपान होगा। वह पूर्णता प्राप्त दिव्य मानव सतत रूप से प्रभु की दिव्य चेतना से युक्त रहेगा और परम ज्ञान, दिव्य प्रेम, अनन्त-शक्ति, दिव्य आनन्द तथा पूर्ण सामंजस्य से विभूषित होगा और दिव्य प्रभुमय जीवन व्यतीत करेगा।

—४—

अतिमानसिक प्रकाश

हमलोगों ने देखा है कि पृथ्वी के आज तक के विकास में नवीन अभिव्यक्ति के लिये एक के बाद दूसरा अधिक से अधिक प्रकाशित स्तरों के तत्त्व अवतीर्ण होते आये हैं, और अब नये विवर्तन के लिये आवश्यकता ज्ञात हो रही है। इस नूतन प्रकाश के अवतरण के लिये पृथ्वी पर अवतार का होना आवश्यक है। पृथ्वी के प्रारम्भ से वर्तमान विकास तक नये-नये विकास के प्रकट करने के लिये प्रत्येक बार उस समय की आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न अवतार हुए हैं। यथा प्रथम मत्स्यावतार हुआ, इससे जलचर उत्पन्न हुए, उसके बाद कच्छपावतार हुआ जिससे जीव-जंतु पैदा हुए। तदन्तर वाराहावतार हुआ जिससे दीन प्राणियों की सृष्टि का प्रारंभ हुआ। एवं प्रकारेण एक के बाद दूसरे उच्चतर विकास के निमित्त अवतार भी

क्रमशः अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। अन्ततोगत्वा श्रीरामचन्द्रजी हुए और इसके बाद श्रीकृष्णजी हुए।

वर्तमान मानव-चेतना को भी सर्वश्रेष्ट अतिमानसिक चेतना में प्रवेश करने के लिये क्रमशः उच्चतर मानसिक चेतनाओं में से गुजरना पड़ता है, जिनमें मुख्य हैं उच्चतर मन, प्रकाशित मन, संबोधित मन और अधिमानस। और इनके बाद ही अतिमानस की चेतना है।

अधिमानस की चेतना श्रीकृष्ण की चेतना है, और इसी स्तर के सभी महान् देवगण हैं। अतिमानस की चेतना ही जो उससे कहीं अधिक उच्चतर स्तर है, एकमात्र समर्थ है पृथ्वी के नये विकास को साधित करने में।

पृथ्वी पर अब इस नूतन और अंतिम पूर्ण तथा दिव्यता से भरा नया विकास साधित करने के लिये अतिमानसिक प्रकाश स्थापित करना आवश्यक है और इसी उद्देश्य के लिये आज तक के सभी अवतारों से अत्यधिक शक्तिशाली अवतार की आवश्यकता है। पृथ्वी के विकास की पूर्णता के प्राप्ति के निमित्त अब तक के अवतीर्ण सभी तत्त्वों को—जड़ तत्त्व, जीवन तत्त्व, प्राण-तत्त्व, मनस्तत्त्व प्रकाशित करना पड़ेगा। इन चारों तत्त्वों के प्रकाशित करना पड़ेगा। इन चारों तत्त्वों के प्रकाशित और परिवर्त्तित होने के बाद ही अतिमानसिक तत्त्व स्थापित हो सकता है और इससे ही मानव-शरीर, प्राण तथा मन अपनी अन्तिम पूर्णता, संबुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार की घटना के अनन्तर, जगत् के व्याधि-उपाधि मरण, शोक, आपत्ति आदि का अन्त हो जायगा, मानव पूर्णतम विकास को प्राप्त कर लेगा और दिव्य जीवन प्राप्त कर पृथ्वी पर स्वर्ग का आनन्द अनुभव करेगा।

—५—

ईश्वरावतरण

अब तक के अवतारों ने नये-नये तत्त्वों को जगत्-क्रम में स्थापित किया है, परन्तु यह अंतिम कार्य, मन-प्राण-बुद्धि-शरीर के परिवर्तन के लिये दिव्य चेतना को पृथ्वी पर लाने का कार्य महा कठिन है, इसे साधारण मनुष्य तो समझ ही नहीं सकता। तत्त्वों का विकास अभी तक मर्यादित है, ये पूर्ण प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सके हैं, इसी कारण से विश्व में सभी प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम तो इन तत्त्वों को अतिमानसिक प्रकाश से प्रकाशित करना और परिवर्त्तित करना ही अति कठिन है, तदुपरांत इससे भी बढ़कर कठिनतर कार्य यह है कि पृथ्वी के प्रारंभ से ही आसुरी शक्तियों ने जगत् पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है, उन पर विजय प्राप्त करना होगा। वे आसुरी शक्तियाँ अच्छी तरह जानती हैं कि अतिमानस के प्रकाश के पृथ्वी पर स्थापित होने से उनका पृथ्वी पर राज्य मिट जायगा, अतएव वे पूरे बल के साथ उसका विरोध कर रही हैं। पिछले अवतारों का यह काम नहीं रहा और इस महाविकट कार्य के लिये सामान्य अवतार पर्याप्त नहीं है, इसके निमित्त सर्वशक्ति समन्वित परमेश्वर तथा साक्षात् महाशक्ति का अवतरण ही आवश्यक है। अतः यह महा अद्भुत विकास, परिवर्तन साधित करने के लिये श्री अरविन्द एवं श्रीमाताजी, ईश्वर और शक्ति स्वरूप से पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं, इसके प्रमाण स्वरूप श्रीअरविन्द के कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं—"हमारे सामने एक मात्र उद्देश्य है अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक सत्य को पृथ्वी पर स्थापित करना। हमारा ध्येय उस सत्य को प्रगट करना ही है और यदि हम पृथ्वी पर उस सत्य की स्थापना न कर सके तो एक सौ अवतारों से भी शक्य नहीं होगा।"

"इस योग के द्वारा हमें केवल अनन्त भगवान को खोजना ही नहीं है, वरन उस अनन्त ब्रह्म को इस मानव जीवन में अभिव्यक्त होने के लिये उतार लाना है।"

"श्री माँ और मेरी चेतना दोनों एक ही दिव्य चेतना एक ही भागवत चेतना दो रूपों में है, क्योंकि हमारी लीला के लिये यह आवश्यक है।"

उपर्युक्त कथन के आधार पर श्री अरबिन्द और श्रीमाँ अभी तक के सभी अवतारों में सर्वश्रेष्ठ और अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न हैं। उनका कार्य पृथ्वी पर प्रभु के साम्राज्य

को पूर्ण रूपेण स्थापित करना और पृथ्वी को स्वर्गतुल्य बनाना तथा पृथ्वी पर सभी दुखों का अन्त लाना है।

अनेक वर्षों के सतत प्रयत्नों के बाद श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ ने अपने कार्य के प्रथम आधार के रूप में १९२६ में अधिमानसिक प्रकाश पृथ्वी पर स्थापित किया; तब उन्हें अतिमानसिक प्रकाश की स्थापना का निश्चय हुआ। उसके बाद १९३८ में उन्होंने अपने योगबल से अतिमानस को पृथ्वी पर अवतीर्ण किया, किन्तु पृथ्वी की कुछ अशुद्धियों के कारण वह स्थापित नहीं हो सका। तत्पश्चात इस कार्य की शीघ्रता के लिये १९५० के दिसम्बर में उन्होंने इसे अपने शरीर में उतारा। यदि वह प्रकाश उनके शरीर से होकर पृथ्वी के वातावरण में अधिकाधिक फैलता तो पृथ्वी पर अनेकानेक कठिनाइयों के बढ़ जाने की संभावना थी। इस कारण से, एक वर्ष पूर्व निश्चित निर्णयानुसार उन्होंने अपनी चेतना का संवरण शरीर से कर लिया और इस तरह जगत्-कल्याण के हेतु अपने शरीर का बलिदान दिया। इसके सम्बन्ध में श्रीमाँ ने निम्नलिखित संदेश दिया था।

"श्रीअरविन्द ने अपने शरीर को छोड़ने के लिये जो निर्णय किया उसका मुख्य कारण था पृथ्वी और मनुष्यों की ग्रहणशीलता का अभाव। हमारे प्रभु ने अपना बलिदान सिर्फ हमारे लिये ही किया है, शरीर छोड़ने के लिये वे विवश नहीं थे, पर शरीर छोड़ने का जो कारण है वह इतना गहन तथा दिव्य है कि मानव-बुद्धि समझने में असमर्थ है। और जब हम इसे न समझ सकते है तो संमानपूर्वक मौनभाव रखना ही सर्वोत्तम है।"

शरीर छोड़ने के पूर्व ही उन्होंने अतिमानसिक प्रकाश को अपने शरीर में स्थापित कर लिया था। तत्परिणाम-स्वरूप, शरीर छोड़ने के बाद भी ५ दिनों तक उनके शरीर में किसी प्रकार की विकृति नहीं आ सकी। वह प्रकाश वापस न लौट जाय, इसके लिये श्रीमाँ ने प्रकाश को सुरक्षित रखा और पृथ्वी के वातावरण में आवश्यक तैयारी करने के बाद १९५६ में पृथ्वी के साथ उसको संबंधित किया, जिससे उस प्रकाश ने २९ फरवरी १९५६ को पृथ्वी पर सीधे अवतरित होना प्रारंभ कर दिया। उस दिन को श्रीमाँ ने जगत् के लिए 'स्वर्ण दिवस' या 'भगवान् का दिवस' माना। इसके साथ ही श्रीमाँ ने यह घोषणा की—

"अतिमानसिक प्रकाश के पृथ्वी पर स्थापित होने की बात अब प्रतिज्ञा ही नहीं है, वरन सत्य और जीवन्त घटना बन चुकी है।" "वह प्रकाश अब यहाँ कार्य कर रहा है, एक दिन आयगा जब अंधे, अचेतन और निराशावादी भी इस नूतन प्रकाश के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य होंगे।" जब-जब पृथ्वी पर अवतार प्रकट होता है, तब-तब मनुष्य के लिए अमूल्य अवसर प्राप्त होता है। जो व्यक्ति नये दिव्य प्रकाश की ओर उन्मुख होने के लिए तथा प्रभु-प्राप्ति के निमित्त अवतार के कार्य का यंत्र बनने के हेतु अपने आपको समर्पित करता है, वह भाग्यशाली होता है। परन्तु दुःख की बात है कि मानव-स्वभाव इतना संकीर्ण और अज्ञ होता है कि पहले के अवतारों का ही पूजन करता है और नये अवतारों का जो अधिकतर बलशाली होते हैं, विरोध करता है। केवल कुछ कृपापात्र भाग्यशाली ही नये अवतार को स्वीकार कर उनके दिव्यतर कार्य के यंत्र बनते हैं। इसके सम्बन्ध में श्रीमाँ ने कहा है—"अवतारों की अनन्तता में प्रत्येक अवतार भविष्य में होनेवाले नये विकास का अग्रगामी होता है और फिर भी मनुष्य में यह प्रवृत्ति सदा रहती है कि वह पहले के अवतारों का पूजन तथा नये अवतारों का विरोध करता है।"

अपवाद स्वरूप भाग्यशाली और कृपापात्र मनुष्यों के लिये श्रीमाँ ने कहा है—

"कुछ तो अपना आत्मा प्रभु को अर्पित करते हैं, कुछ अपना जीवन अर्पित करते हैं और कुछ अपना धन अर्पित करते हैं। तथापि इनमें से कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपना सर्वस्व अर्पण करते है और अपने आपको पवित्र बनाते है अर्थात् अपना आत्मा, जीवन, कर्म और धन सब कुछ अर्पण करते हैं। ये ही सब प्रभु की सच्ची संतान है। जो लोग भगवान् को कुछ भी नहीं देते, उनके पास चाहे जितनी संपत्ति, शक्ति और सत्ता हो, उनका

मूल्य प्रभु के साम्राज्य में मूल्यहीन वृहत् शून्य की तरह है।"

अवतारी व्यक्ति शरीरधारी होने पर भी मनुष्य की भाँति शरीर-बद्ध नहीं रहते और उनकी चेतना संपूर्ण विश्व में व्यापक रहती है। एवं प्रकारेण सचेतन रूप से वे विश्व में अपना कार्य करते हैं तथापि उनके स्थूल शरीर का सान्निध्य मानव-विकास के कार्य में महत्वपूर्ण कार्य करता है। वे अपने कार्य के लिये विश्व की सभी आसुरी और दैवी शक्तियों से सजग रहते हैं तथा पृथ्वी की घटनाओं में उन शक्तियों का यथोचित उपयोग करके अपना कार्य आगे बढ़ाते हैं। उदाहरण स्वरूप गत विश्व-युद्ध में श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी को सतत जाग्रत रहना पड़ा था। श्रीअरविन्द ने कहा था कि गत विश्वयुद्ध श्री माताजी का ही युद्ध था अर्थात् श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी जिस नये कार्य का सृजन कर रहे थे, उस कार्य को नष्ट करने के लिये आसुरी शक्तियों ने हिटलर को अपना यंत्र बनाकर मानवजाति को सदा के लिये मटियामेट कर देने की योजना रची थी। अतः श्रीअरविन्द और श्रीमाताजी ने रातोदिन जाग्रत रहकर अपनी शक्तियों का उपयोग मित्रराष्ट्र की विजय के लिये किया। श्रीअरविन्द ने यह भी कहा था कि हिटलर की विजय से मानवजाति को जितना नुकसान होगा, उसका १०० वाँ भाग भी मित्रराष्ट्रों की विजय से नहीं होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। इसीलिये हमलोग अपनी आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग करते हैं और मित्रराष्ट्रों की विजय से हमलोगों के कार्य को वेग मिलेगा।

श्री अरविन्द और माता जी अबतक के सभी अवतारों में सर्वश्रेष्ठ और भगवान् के दोनों पक्षों, ईश्वर और शक्ति, के स्वरूप हैं। एक है प्रशांत स्वरूप और द्वितीय है क्रियात्मक स्वरूप।

उनलोगों का स्थापित किया हुआ अतिमानसिक प्रकाश दिन प्रति-दिन अधिकाधिक वर्द्धित हो रहा है और पृथ्वी के वातावरण तथा मानव-चेतना में नये विकास के लिये नये-नये परिवर्तन होने वाले हैं। वह प्रकाश अपनी पूरी शक्ति के साथ १९६७ से अपना कार्य करेगा और तब ही सारा जगत् उसके परिणामों को स्पष्टतः देख सकेगा।

अतिमानसिक प्रकाश से विभूषित तथा पूर्णता प्राप्त मानव-जाति निकट भविष्य में प्रादुर्भूत होगी। उसकी शक्तियाँ वर्तमान मानव-जाति से अनेक गुणा अधिक होगी। जिस तरह पशु से विकसित होकर मानव हुआ है और पशु से मानव जितना अधिक शक्तिशाली है, उसी तरह मानव से अति-मानव उत्पन्न होगा और मानव की शक्तियों से अत्यधिक महत्तर शक्ति सम्पन्न होगा। प्रधानतः इस योग के अवल-म्बन से ही अतिमानव बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा, क्योंकि योग के अतिरिक्त मन, बुद्धि, प्राण और शरीर का परिवर्तन असंभव है। फिर भी जनसाधारण ज्ञान या अज्ञात रूप से इस नूतन प्रकाश से लाभान्वित होगा।*

("प्राच्य भारती" मासिक पत्रिका से)

* योग या ध्यान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले भक्त, सन्त या ऋषि ही परमात्मा के सर्वांगपूर्ण प्रतिनिधि हैं। ऐसे सन्तों में किसी भाँति के ज्ञान, आनन्द, शक्ति और शान्ति की कमी नहीं रहती।

—सम्पादक

—:(०):—

पश्चिम और पूर्व

योगीवर अरविन्द

मानवपरिवार के इन दो अङ्गों के भेद-वैषम्य की विस्तृत चर्चा करने और यहाँ तक कि इन्हें एक दूसरे के विरोध में खड़ा करने की आजकल प्रथा-सी पड़ गयी है; परंतु मैं तो भेद-वैषम्य की अपेक्षा अभेद-एकत्व का ही विशेषकर विस्तार से वर्णन करना चाहूँगा। सच पूछिये तो पूर्व और पश्चिम के लोगों की एक ही प्रकृति है, एक ही भवितव्यता है, महत्तर पूर्णता के लिये एक समान अभीप्सा है, अपने से उच्चतर किसी वस्तु के लिये एक समान जिज्ञासा है,—किसी ऐसी वस्तु के लिये जिसकी ओर हम भीतर से और बाहर से भी अग्रसर हो रहे हैं। कुछ विचारकों की ऐसी प्रवृत्ति ही हो गयी है कि वे पूर्व की आध्यात्मिकता या गुह्यवाद तथा पश्चिम के जडवाद पर दृष्टि गड़ाये रहते हैं; परंतु पश्चिम में भी आध्यात्मिक खोज एवं जिज्ञासा पूर्व से कम नहीं रही है और चाहे वहाँ ऋषि-मुनि तथा गुह्यदर्शी पूर्व की भाँति बहुतायत से न हुए हों, पर हुए अवश्य हैं। दूसरी ओर पूर्व में भी जड़वादात्मक प्रवृत्तियाँ रही हैं और भौतिक ऐश्वर्य-वैभव तथा जीवन, जड़तत्त्व एवं इहलोक के साथ पश्चिम-सरीखे या तदभिन्न व्यवहार भी रहे हैं। पूर्व और पश्चिम में न्यूनाधिक निकट संपर्क और मेलजोल सदा ही रहा है, उन्होंने एक दूसरे पर प्रबल प्रभाव डाला है और आज तो निकटतर संपर्क के लिये विश्वप्रकृति तथा नियति का अत्यधिक दबाव पड़ रहा है।

हमारे सामने आज आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की एक ऐसी मिलित आशा तथा एक ऐसी मिलित भवितव्यता जगमगा रही है, जिसके लिये दोनों को मिल-जुलकर काम करने की जरूरत है। हमें अपना ध्यान पहले की तरह भेद-वैषम्य पर नहीं, बल्कि मेल तथा ऐक्य और यहाँ तक कि एकत्व पर लगाना चाहिये, क्योंकि उस मिलित आदर्श एवं अटल लक्ष्य तथा चरितार्थता को संपादित एवं साधित करने के लिये इन्हीं चीजों की जरूरत है। उसी आदर्श के पथ पर विश्व प्रकृति ने शुरू-शुरूमें अन्धवत् कदम रक्खा था और उसी की ओर वह आज अपने प्रारम्भिक अज्ञान की जगह उदीयमान बुद्धिशील ज्ञान की ज्योति में निरन्तर धैर्यपूर्वक बढ़ रही है।

परंतु वह आदर्श और वह उद्देश्य क्या होगा? यह तो इस बात पर निर्भर है कि जीवन की वास्तविकताओं तथा परम सद्वस्तु के सम्बन्ध में हमारा विचार क्या है।

यहाँ हमें यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि पूर्व और पश्चिम की प्रवृत्तियों में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। वे केवल उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होती गयी हैं। सर्वोच्च सत्य है आत्मा का सत्य। वह आत्मा विश्वातीत परम आत्मा होता हुआ भी संसार में तथा सर्वभूत में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है। वह सबको धारण कर रहा तथा चेतना के विकास द्वारा उस उद्देश्य, लक्ष्य एवं चरितार्थता की ओर ले चल रहा है, जो चरितार्थता प्रकृति की धुँधली अचेतन प्रारम्भिक अवस्थाओं से लेकर निरन्तर उसका लक्ष्य रही है। वह परम आत्मा सत्ता का एक ऐसा रूप है जो हमारे अस्तित्व के रहस्य का सूत्र हमें पकड़वा देता है और संसार को सार्थकता प्रदान करता है। पूर्व ने नित्य-निरन्तर तथा उत्तरोत्तर आत्मा के परम सत्य पर ही अधिक-से-अधिक बल दिया है; यहाँ तक कि इसने अपने ऐकान्तिक दर्शन-शास्त्रों में जगत् को माया कहकर त्याग दिया है और आत्मा को एकमात्र सद्वस्तु माना है। पश्चिम ने सदा-सर्वदा अधिकाधिक अपना सारा बल संसार पर लगाया है अर्थात् हमारी भौतिक सत्ता के साथ मन तथा प्राण के व्यवहारों पर, ऐहिक प्रभुत्व पर, मन तथा प्राण की पूर्णता और मानवप्राणी की किसी-न-किसी प्रकार की ऐहिक कृतार्थता पर, हाल ही में यह स्थिति पराकाष्ठा को पहुँच गयी है और उसने आत्मा का

निषेध कर डाला है; यहाँ तक कि जड़प्रकृति को एकमात्र सद्वस्तु के रूप में सिंहासनासीन कर दिया है। एक ओर तो आध्यात्मिक पूर्णता का अनन्य आदर्श और दूसरी ओर जाति की पूर्णता, समाज की पूर्णता तथा मानव मन एवं प्राण का और मनुष्य के भौतिक जीवन का पूर्ण विकास ही भविष्य का महान्-से-महान् स्वप्न बन गया है। तथापि दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही विश्वप्रकृति में आत्मा के उद्देश्य के अंग समझे जा सकते हैं, ये एक दूसरे से असंगत नहीं। असल में आवश्यकता इस बात की है कि इन्हें विषमता से मुक्तकर अपनी भविष्य-दृष्टि में समाविष्ट तथा समन्वित कर लिया जाय।

पश्चिम के विज्ञान ने यह गवेषणा की है कि विकास इस जड़ जगत् में जीवन तथा उसकी प्रक्रिया का रहस्य है; परंतु इसने चेतना के विकास की अपेक्षा आकृति और उपजातियों के विकास पर ही अधिक बल दिया है; यहां तक कि चेतना को विकास के प्रयोजन का संपूर्ण मर्म नहीं वरं दैवसंयोग माना है। पूर्व में भी कुछ विचारकों तथा कतिपय दर्शनों एवं धर्मशास्त्रों ने विकास का सिद्धान्त स्वीकार किया है, परंतु वहाँ इसका अभिप्राय है आत्मा का विकास अर्थात् व्यक्ति के विकसनशील तथा क्रमिक रूपों और अनेक जन्मों में से गुजरते हुए आत्मा का अपने सर्वोच्च सत्य स्वरूप मे विकसित होना। क्योंकि यदि आकार के भीतर कोई चेतन सत्ता है तो वह सत्ता चेतना का अस्थायी दृग्विषय नहीं हो सकती; वह एक ऐसी आत्मा होनी चाहिये जो अपने को चरितार्थ कर रही है और वह चरितार्थता तभी सम्पन्न हो सकती है, जब कि आत्मा अनेकानेक क्रमागत जन्मों नाना क्रमिक शरीर में फिर-फर पृथ्वी पर प्रकट हो।

अब तक विकास की प्रक्रिया यही रही है कि अचेतन जड़प्रकृति से तथा उसमें पहले अवचेतन का और सचेतन प्राण का उद्भव और फिर सचेतन मन का विकास — प्रथमतः पशु के जीवन में और फिर सचेतन तथा विचार-शील मानव में, जो मानव विकासात्मिका प्रकृति की सर्वोच्च वर्तमान उपलब्धि है। मनोमय प्राणी का सर्जन इस समय प्रकृति का परमोच्च कार्य है और इसे ही उसका अन्तिम कार्य समझने की ओर विचारकों की प्रवृत्ति दीख पड़ती है; परंतु इससे आगे विकास के एक और कदम की भी कल्पना की जा सकती है, प्रकृति के सामने यह लक्ष्य भी हो सकता है कि वह मनुष्य के अपूर्ण मन से परेकी एक ऐसी चेतना का विकास करे जो मन के अज्ञान का अतिक्रम कर सत्य को अपने जन्मसिद्ध अधिकार एवं स्वभाव के रूप में धारण करे। निःसंदेह, एक ऐसी परमोच्च चेतना का भी अस्तित्व है जिसे वेद में ऋत चेतना कहा गया है और जिसे मैंने अतिमानस का नाम दिया है। उसमें परम ज्ञान अन्तर्निहित है और तो उसे इसकी खोज करनी पड़ती है और न इससे बार-बार चूक जाने की ही कोई बात उपस्थित होती है। एक उपनिषद् में कहा गया है कि मनोमय पुरुष से अगला और उपरला सोपान है विज्ञानमय जीव; उसी में आत्मा को आरोहण करना है और उसीके द्वारा इसे आध्यात्मिक सत्ता का पूर्ण आनन्द उपलब्ध करना है। यदि इहलोक में में विश्वप्रकृति के अगले विकास-सोपान के रूप में विज्ञान-मय स्तर की उपलब्धि हो सके तो प्रकृति का उद्देश्य चरितार्थ हो जायगा और हम इस लोक में भी जीवन की पूर्णता तथा शरीर में भी या संभवतः पूर्णताप्राप्त शरीर में पूर्ण आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति की कल्पना को हृदयङ्गम कर सकेंगे। यहाँ तक कि हम पृथ्वी पर दिव्य जीवन की प्रतिष्ठा की चर्चा कर सकेंगे और पूर्णता की संभावना का हमारा मानवी स्वप्न सिद्ध हो जायगा। इसके साथ ही पृथ्वी पर स्वर्ग को प्रतिष्ठित करने की हमारी वह अभीप्सा भी पूरी हो जायगी जो अनेक धर्मों तथा आध्यात्मिक ऋषियों एवं मनीषियों में समान रूप से पायी जाती है।

मानव-जीवन का परम आत्मा की ओर आरोहण ही जीव का सर्वोच्च लक्ष्य एवं ध्रुव नियति है, क्योंकि वह परम आत्मा ही सर्वोच्च सद्वस्तु है, परंतु आत्मा तथा उसकी शक्तियों का इस जगत् में अवतरण भी हो सकता है और वह जड़ जगत् के अस्तित्व को उचित सिद्ध करेगा तथा सृष्टि को सार्थकता प्रदान कर उसका दिव्य प्रयोजन प्रकाशित करेगा और उसकी गुत्थी सुलझा देगा। इस अत्युच्च और अति महान् आदर्श के अनुसरण में पूर्व और पश्चिम का समन्वय किया जा सकता है, आत्मा जड़ प्रकृति का आलिङ्गन कर सकती है और प्रकृति आत्मा के अन्तर्गत अपने निजी सत्य स्वरूप को तथा वस्तुमात्र में निगूढ़ सद्वस्तु की उपलब्धि कर सकती है।

ॐ

सन्तमत-साधना-केन्द्र का रूपात्मक आदर्श

पवित्रता का सर्वोच्च रूप ही अध्यात्म है। इस उज्ज्वलतम अध्यात्म को भौतिक जगत् की पूर्णता में चरितार्थ करना, अभिरूपित करना—मूर्त्तिमान करना ही इस धरती पर अध्यात्म का आदर्श रूप हो सकता है। इस "आदर्श स्थापन" का सत्संकल्प और इसको उद्घोषणा एक ऐसे महान् ऋषि, सन्त, भक्त, योगी और ज्ञानी के द्वारा हुई है, जिन्होंने अध्यात्म जगत् के कण-कण का भली भाँति निरीक्षण और परिदर्शन कर लिया है— जिन्होंने भलीभाँति और परिपूर्ण रूप से यह जान लिया है कि वैदिक कालीन महर्षियों से लेकर आजतक के ऋषियों, योगियों, भक्तों, ज्ञानियों ने किस साधन से, किस मार्ग से चलकर परम प्रभु परमात्मा की उपलब्धि या साक्षात्कार किया है और उस पावनता, शक्तिमत्ता, चेतनता, सत्यता, मधुरता, शान्तता एवं आनन्दमयता के अखण्ड और अनन्त भण्डार का वास्तविक स्वरूप क्या और कैसा है? इसीलिये उस सत्संकल्प और उज्ज्वलतम उद्घोषणा को इस धरती पर रूप धारण करना ही पड़ेगा। हमारा परम सौभाग्य है कि हमलोग इस पवित्र अवसर पर मानव-शरीर में उनके शिष्य, भक्त, पुत्र और अनुयायी बनकर उपस्थित हैं। अतः हमारा यह सर्वोत्कृष्ट और पुनीत कर्त्तव्य है कि हम अपने शरीर, सम्पत्ति एवं मन-बुद्धि को उनका परिशुद्ध "करण" बनाने के लिये सचाई से तत्पर और प्रयत्नशील हो जायँ और परम सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज द्वारा वर्णित "उपासना के योग्य स्थान या साधना-आश्रम" बनाने में लग जायँ, यही हमारी विनीत प्रार्थना है। *

विनीत—
माधवजी "मुक्त"
व्यवस्थापक, महर्षि मेँहीँ आश्रम
कुप्पाघाट

---

* सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज द्वारा "उपासना के योग्य स्थान" का सुमधुर-सुपावन वर्णन इस अंक के आवरण पृष्ठ ४ पर अङ्कित है। — सम्पादक

रजि० सं० पी० ७२६

ॐ

उपासना के योग्य स्थान

(सन्त ज्ञानेश्वर)

जहाँ वनश्री की शोभा के कारण ही बैठे हुओं को उठना अच्छा न लगे, जिसे देखते ही वैराग्य में ओज आ जाता है, जिसका वास सन्तोष का सहायक होता है और मन को धैर्य का कवच पहनाता है, जहाँ अभ्यास (ईश्वर-चिन्तन) अपने आप होने लगता है और जहाँ ऐसी रम्यता अखण्ड बसती हो कि जिससे हृदय में अनुभव का प्रकाश हो जाय, जिसके पास होकर जाने से तपश्चर्या के मनोरथ उछलने लगें और पाखण्डी के मन में भी आस्था जड़ पकड़ ले, सहज अथवा अचानक जिस मार्ग से जाते हुए सकाम मनुष्य भी वापस लौटना भूल जाय; इस तरह अनिच्छुक को भी वहाँ रोक ले, भटकने वाले को बैठा दे, वैराग्य को हिला कर जगा दे, जिसे देख कर किसी विलासी के मन में ऐसा हो कि भोग-वैभव छोड़ कर यहाँ शान्त होकर बैठ जायँ; जो ऐसा सुन्दर और अति उत्तम स्थान दिखे (उसे उपासना के योग्य स्थान कहना चाहिये) । (ज्ञानेश्वरी)

(महर्षि मेंहीँ आश्रम, कुप्पाघाट (भागलपुर) को देखने से प्रतीत होता है कि सन्त ज्ञानेश्वर की वाणी ही जैसे यहाँ मूर्तिमान हो उठी है ।) —सम्पादक

श्री ब्रह्मनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित एवं श्री शंकर लाल बाजोरिया द्वारा
दि एलाइड प्रेस भागलपुर-२ में मुद्रित ।